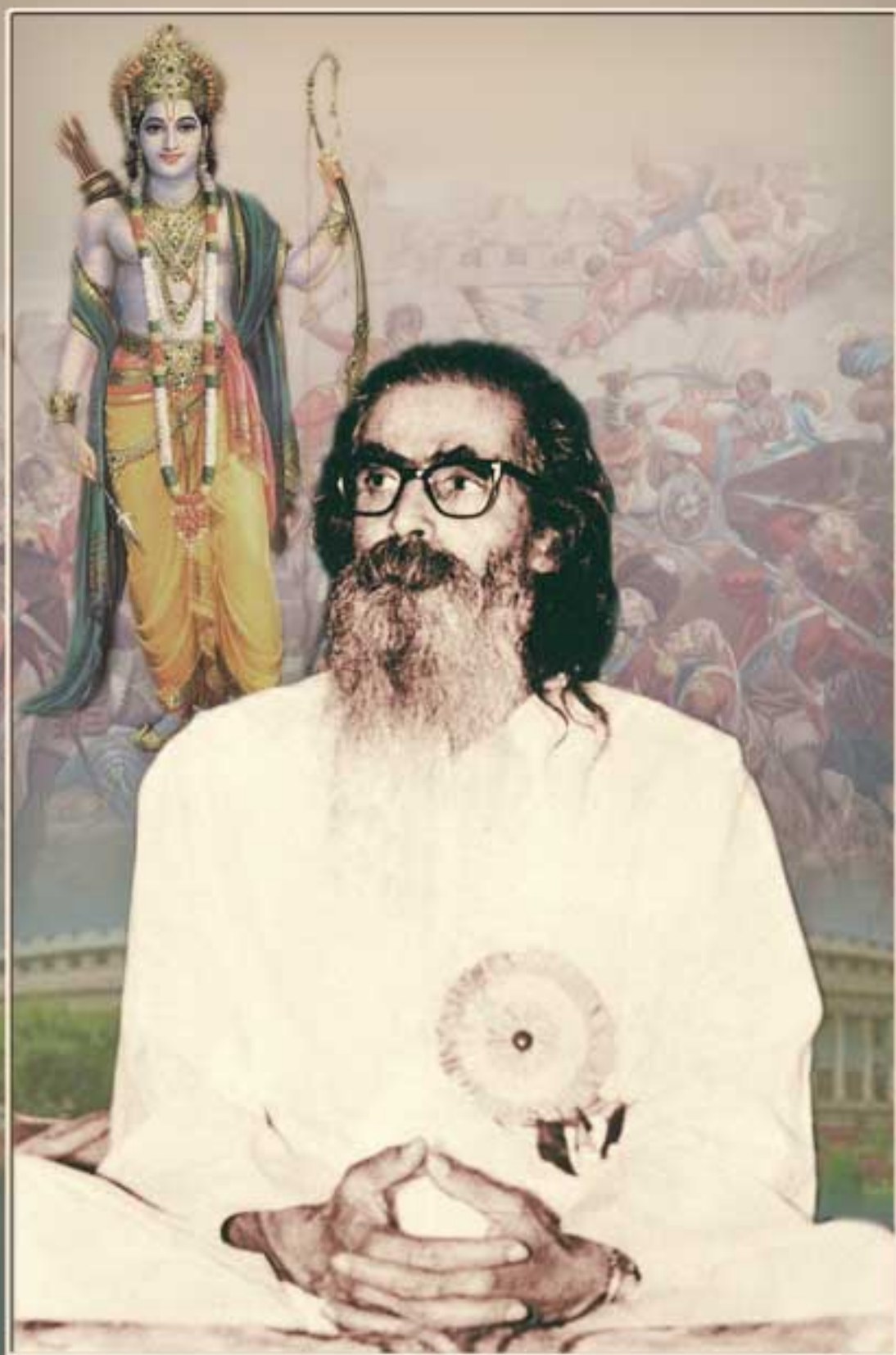


श्री गुरुजी और राजनीति



संकलनकर्ता
डा. गौरीनाथ रस्तोगी

श्री गुरुजी
और
राष्ट्र-अवधारणा

संकलनकर्ता - मा.गो.वैद्य

सरसंघचालक पद का भार ग्रहण करने के बाद अत्यन्त श्रद्धा तथा लगन के साथ वे कार्य में जुट गए। उनके स्वभाव में आमूलाग्र परिवर्तन हो गया। प्रारम्भ में वे क्रोधी स्वभाव के थे परन्तु संघ कार्य प्रारम्भ करने पर उन्होंने अपना क्रोधी स्वभाव बदल डाला।

-बाला साहब देवरस

अध्याय - 9 राष्ट्र और राज्य

राष्ट्र, राष्ट्रियता, हिन्दू राष्ट्र इन अवधारणाओं (concepts) के सम्बन्ध में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक (१९०६ से १९७३) श्री माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर उपाख्य श्री गुरुजी ने जो विचार समय-समय पर व्यक्त किये, वे जितने मौलिक हैं, उतने ही कालोचित भी हैं। एक बड़ी भारी भ्रान्ति सर्वदूर विद्यमान है जिसके कारण, राज्य को ही राष्ट्र माना जाता है। 'नेशन-स्टेट' की अवधारणा प्रचलित होने के कारण यह भ्रान्ति निर्माण हुई और आज भी प्रचलित है। स्टेट (राज्य) और नेशन (राष्ट्र) इनका सम्बन्ध बहुत गहरा और अंतरतम है, इतना कि एक के अस्तित्व के बिना दूसरे के जीवमान अस्तित्व की कल्पना करना भी कठिन है। जैसे पानी के बिना मछली। फिर भी पानी अलग होता है और मछली अलग, वैसे ही राज्य अलग है, राष्ट्र अलग है। इस भेद को आँखों से ओझल करने के कारण ही, प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात्, विभिन्न देशों में सामंजस्य निर्माण करने हेतु जिस संस्था का निर्माण किया गया और जिसके उपयुक्तता का बहुत ढिंढोरा पीटा गया, उसका नाम 'लीग ऑफ नेशन्स' था। वस्तुतः वह लीग ऑफ स्टेट्स, या लीग ऑफ गव्हर्नमेंट्स थी। मूलभूत धारणा ही गलत होने के कारण केवल दो दशकों के अन्दर वह अस्तित्वविहीन बन गया। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् 'युनाइटेड नेशन्स' बनाया गया। वह भी युनाइटेड स्टेट्स ही है। इस युनाइटेड नेशन्स यानी राष्ट्रसंघ का एक प्रभावशाली सदस्य यूनियन ऑफ सोशलिस्ट सोवियत रिपब्लिक्स (यु.एस.एस.आर) है। वह उस समय भी एक राष्ट्र नहीं था। एक राज्य था। सेना की भौतिक शक्ति के कारण वह एक था। आज वह शक्ति क्षीण हो गई तो, उसके घटक अलग हो गये हैं। यही स्थिति युगोस्लाव्हाकिया की भी हो गयी। वह भी एक राष्ट्र नहीं था। एक राज्य था। तात्पर्य यह है कि युनाइटेड नेशन्स यह राष्ट्रसंघ नहीं, राज्यसंघ है।

'राज्य' की निर्मिति के सम्बन्ध में महाभारत के शान्तिपर्व में सार्थक चर्चा आयी है। महाराज युधिष्ठिर, शरशय्या पर पड़े भीष्म पितामह से पूछते हैं कि "पितामह, यह तो बताइये कि राजा, राज्य कैसे निर्माण हुये।" भीष्म पितामह का उत्तर प्रसिद्ध है। उन्होंने कहा कि एक समय ऐसा था कि जब कोई राजा नहीं था, राज्य नहीं था, दण्ड नहीं था, दण्ड देने की कोई रचना भी नहीं थी। लोग 'धर्म' से चलते थे और परस्पर की रक्षा कर लेते थे। महाभारत के शब्द हैं :-

“न वै राज्यं न राजाऽसीत्
न दण्डो न च द्वाण्डकः।
धर्मैवैव प्रजाः सर्वा।

रक्षन्ति स्म परस्परम्।”

स्वाभाविकतया युधिष्ठिर का पुनः प्रश्न आया कि, यह स्थिति क्यों बदली। भीष्माचार्य ने उत्तर दिया, “धर्म क्षीण हो गया। बलवान् लोग दुर्बलों को पीड़ा देने लगे” महाभारत का शब्द है- “मास्यन्याय” संचारित हुआ। याने बड़ी मछली छोटी मछली को निगलने लगी। तब लोग ही ब्रह्माजी के पास गये और हमें राजा दो, ऐसी याचना की। तब मनु पहले राजा बने। राजा के साथ राज्य आया, उसके नियम आये, नियमों के भंग करनेवालों को दण्डित करने की व्यवस्था आयी। नियमों के पीछे राज्यशक्ति यानी दण्डशक्ति का बल खड़ा हुआ। अतः नियमों को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।

आज का राज्यशास्त्र भी इसी स्थिति को मानता है। राज्य यह एक राजनीतिक अवधारणा है, जो कानून के बलपर खड़ी रहती है, उसके बलपर चलती है और कानून को सार्थक रखने के लिए उसके पीछे राज्य की दण्डशक्ति (Sanction) खड़ी रहती है। राज्य के आधारभूत हर कानून के पीछे, उसको भंग करनेवालों को दबानेवाली (coercive) एक शक्ति खड़ी होती है। अर्नेस्ट बार्कर नाम के राज्यशास्त्र के ज्ञाता कहते हैं “राज्य कानून के द्वारा और कानून में अवस्थित रहता है। हम यह भी कह सकते हैं कि राज्य यानी कानून ही होता है।”

“The state is a legal association: a juridically organized nation or a nation organized for actoin under legal rules. It exists for law: it exists in and through law: we may even say that it exists as law. If by law we mean, not only a sum of legal rules but also and in addition, an operative system of effective rules which are actually valid and regularly enforced. The essence of the State is a living body of effective rules: and in that sense the State is law.” (Ernest Barker - Priciples of Social and Political Theory - Page 89)

तात्पर्य यह है कि राज्य की आधारभूत शक्ति कानून का डर है। किन्तु राष्ट्र की आधारभूत शक्ति लोगों की भावना है। राष्ट्र लोगों की मानसिकता की निर्मिति होती है। हम यह भी कह सकते हैं कि राष्ट्र यानी लोग होते हैं। People are the Nation. अंग्रेजी में कई बार ‘नेशन’ के लिये ‘पीपुल’ शब्द का प्रयोग किया जाता है।

किन लोगों का राष्ट्र बनता है। मोटी-मोटी तीन शर्तें हैं। पहली शर्त है, जिस देश में लोग रहते हैं, उस भूमि के प्रति उन लोगों की भावना। दूसरी शर्त है, इतिहास में घटित घटनाओं के सम्बन्ध में समान भावनाएँ। फिर वे भावनाएँ आनन्द की हो या दुःख की, हर्ष की हो या अमर्ष की। और तीसरी, और सबसे अधिक महत्व की शर्त है, समान संस्कृति की। श्री गुरुजी ने अपने अनेक भाषणों में इन्हीं तीन शर्तों का, भिन्न-भिन्न सन्दर्भ में विवेचन करके यह निस्संदिग्ध रीति से प्रतिपादित किया कि यह हिन्दू राष्ट्र है। यह भारतभूमि इस राष्ट्र का शरीर है। श्री गुरुजी के शब्द हैं “यह भारत एक अखण्ड विराट् राष्ट्रपुरुष का शरीर है। उसके हम छोटे-छोटे अवयव हैं, अवयवों के समान हम परस्पर प्रेमभाव धारण कर राष्ट्र-शरीर एकसन्ध रखेंगे।”

अध्याय - २ मातृभूमि

अपनी भूमि हमें मातृभूमि लगनी चाहिए। उसका कण-कण हमें पवित्र लगना चाहिए। हमारी मातृभूमि, कोई मिट्टी का ढेर नहीं, वह जड़ या अचेतन नहीं, ऐसी हमारी भावना चाहिये। इस प्रकार की जिनकी भावना और श्रद्धा रहेगी, उनका ही “राष्ट्र” बनेगा और वे ही राष्ट्रीय कहलाये जायेंगे, यह सत्य श्री गुरुजी ने बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा है। मातृभूमि के गौरव के कितने भी स्तोत्र उन्होंने गाये हैं। श्री गुरुजी कहते हैं “यह है हमारी पवित्र भूमि भारत, देवताओं ने जिसकी महत्ता के गीत गाये हैं-

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ये भ्रातृभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुस्त्वात्।

(अर्थात् हम देवताओं में भी वे लोग धन्य हैं जो स्वर्ग और मोक्ष के लिए साधनभूत भारतभूमि में उत्पन्न हुए हैं।)

- यह भूमि जिसे महायोगी अरविन्द ने विश्व की दिव्य जननी के रूप में आविष्करण कर प्रत्यक्ष दर्शन किया - जगन्माता। आदिशक्ति। महामाया। महादुर्गा। और जिसने मूर्तरूप साकार होकर उसके दर्शन पूजन का हमें अवसर प्रदान किया है।

- यह भूमि जिसकी स्तुति हमारे दार्शनिक कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने “देवि भुवनमनमोहिनी.. ..नीलसिन्धुजलधौतचरणतल” कह कर की है।

- यह भूमि जिसका वन्दन, स्वतन्त्रता के उद्घोषक कवि बंकिमचंद्र ने अपने अमर गीत “वन्दे मातरम्” में किया है, जिससे सहस्रों युवा हृदयों को स्फूर्त कर स्वतन्त्रता हेतु आनन्दपूर्वक फाँसी के तख्ते पर चढ़ने की प्रेरणा दी - त्वं हि दुर्गा दशप्रहरणधारिणी।

- यह भूमि जिसकी पूजा हमारे सन्त महात्माओं ने मातृभूमि, धर्मभूमि, कर्मभूमि एवं पुण्यभूमि के रूप में की है, और यही वास्तव में देवभूमि और मोक्षभूमि है।

- यह भूमि, जो अनन्त काल से पावन भारत माता है, जिसका नाम मात्र हमारे हृदयों को शुद्ध, सात्विक भक्ति की लहरों से आपूर्ण कर देती है। अहो, यही तो हम सबकी माँ है- हमारी तेजस्विनी मातृभूमि।”

(विचार नवनीत, पृष्ठ .७७ से ८६)

इसका अर्थ यह नहीं कि १९वीं शती के बंकिमचंद्र या २० वीं शती के रवीन्द्रनाथ और अरविन्द के समय से यह भावना हमारे अन्दर आयी है। नहीं! यह बहुत प्राचीन भावना है।

अथर्ववेद में कहा गया है कि, “माता पृथिवी, पुत्रोऽहं पृथिव्याः”। यह वेदों की ही पंक्ति है कि पृथिव्यायै समुद्रपर्यन्ताया एकराट्”। हमारे पूर्वजों ने बहुत पहले कहा है कि

“उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः॥

महाकवि कालिदास ने कहा है :-

अत्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥

चाणक्य का वचन है :-

“हिमवत्समुद्रान्तरम् उदीचीनं योजनसहस्रपरिमाणम्” (समुद्र से उत्तर में हिमालय पर्यन्त इस देश की लम्बाई एक सहस्र योजन है) (विचार नवनीत, पृष्ठ. ७७ से ८६)

समुद्र और हिमालय ये अपनी मातृभूमि की सीमाओं के दो बिन्दु समाज मनमें इतने पक्के प्रतिष्ठित हैं कि श्री गुरुजी के शब्दों में “हमारी जाति के एक महानतम व्यक्ति श्री रामचन्द्र जी थे, जिन्होंने इस जाति के चरित्र एवं संस्कृति पर अमिट छाप छोड़ी है। उनके महान् गुण यथा निराकुलता, उदारचित्तता, ज्ञान, गांभीर्य एवं अनुभूतियों की तुलना, समुद्र की अपरिमये गहराई तथा शान्तता से और उनके अदम्य शक्ति एवं धैर्य की तुलना महान और अजेय हिमालय से की गई है-

समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्ये च हिमवानिवा (तत्रैव)

- यह उस भावना का आविष्करण है।

कुछ लोग, बौद्धिक तर्क देकर कहते हैं कि यह देश एक अचेतन, फैला हुआ जड़ भूखण्ड मात्र है। उनको उत्तर देते हुये श्री गुरुजी कहते हैं कि बौद्धिक तर्क की भी अपनी सीमाएँ होती हैं। उदाहरण के लिए मनुष्य शरीर भी भौतिक ही तो है। अपनी माता का शरीर भी उतना ही भौतिक है, जितना किसी अन्य स्त्री का, तब क्यों किसी व्यक्ति ने अपनी माँ को अन्य स्त्रियों से भिन्न समझना चाहिए। उसके लिए भक्ति क्यों होनी चाहिए?

(विचार नवनीत पृष्ठ. ८७ से ९४)

इस भूमि को हम माता के रूप में देखते हैं, अतः ‘वन्दे मातरम्’ कहने में हमें गर्व का अनुभव होता है। जो ‘वन्दे मातरम्’ का विरोध करते हैं, वे कैसे राष्ट्रीय बन सकते हैं? श्री गुरुजी के शब्द हैं, “जब हम कहते हैं कि हम इस भूमि की सन्तान हैं तो हमें उसका उचित ज्ञान भी होना आवश्यक है। चाहे जिस किसी कारण से भी जो लोग केवल यहाँ रहते हैं वे इस भूमि के पुत्र-पुत्रियाँ नहीं बन जाते। इसका एक बहुत स्पष्ट उदाहरण सामने आया है। इस प्रकार के उदाहरण उपस्थित हों, यह दुर्भाग्यपूर्ण ही है। ‘वन्दे मातरम्’ गीत हम बड़े श्रद्धा से दोहराते हैं। इस विशिष्ट गीत के प्रति हम सबके अन्तःकरणों में आदर और सम्मान का भाव है। यह वही गीत है, जिसने अपने सभी नेताओं को मातृभूमि की सेवा और स्वतन्त्रता के लिए

सर्वस्व त्याग करने की प्रेरणा दी। इस मन्त्र का घोष करते हुए कितने ही महापुरुष फाँसी के फन्देपर झूल गये। हाथों में गीता लिए, कण्ठ में वन्दे मातरम् का गायन करते हुये, अनेकों ने आत्मबलिदान कर दिया। इन बलिदानों के परिणाम स्वरूप अंग्रेजों को यहाँ से जाना पड़ा। हमें स्वराज्य प्राप्त हुआ और आज हम स्वतन्त्रता का उपभोग कर रहे हैं। किन्तु अपने देश में कुछ ऐसे भी लोग हैं, जिन्हें 'वन्दे मातरम्' पर आपत्ति है।" श्री गुरुजी आगे कहते हैं " यह आपत्ति इस तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है कि हिन्दू ही इस भूमि की संतति है। यदि मुसलमान भी कहता है कि वह इस भूमि की संतान है, तो यह जरूरी है कि वह अपनी सम्पूर्ण श्रद्धा व सम्पूर्ण भावनाओं के साथ "वन्दे मातरम्" कहे।

(श्री गुरुजी समग्र दर्शन)

संक्षेप में, राष्ट्र के लिए यह पहली शर्त है कि लोग अपने देश को मातृभूमि मानकर उसका सम्मान और श्रद्धापूर्वक उसकी महिमा का गायन करें।



अध्याय - ३ राष्ट्र यानी समाज

“यह भूमि मनुष्य के परिश्रम और पराक्रम का आधार होती है। किन्तु मनुष्य ही उसको एक आत्मतत्त्व कहिये, चैतन्य कहिये, प्रदान करता है। जिस पवित्र भूमि को हम ‘राष्ट्र’ कहकर पुकारते हैं, उसके लिए मनुष्य ही सब कुछ होता है। किसी भी प्रकार की भौतिक स्थिति, परिस्थिति ‘राष्ट्र’ की रचना में पर्याप्त नहीं होती। क्योंकि ‘राष्ट्र’ एक आध्यात्मिक तत्व होता है—किसी भूभाग से परिच्छिन्न लोकसमूह राष्ट्र नहीं बनता।

“The soil provides the substratum the field for struggle and labour: man provides the soul. Man is everything in the formation of this sacred thing that we call a people. Nothing that is material suffices here. A nation is a spiritual principle; the result of the intricate workings of history: a spiritual family not a group determined by the configuration of the earth.” (Ernest Renan : What is a Nation :- Quoted in Modern Political Thought by William Ebenstein, page-764)

ये विचार हैं सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी विचारक अर्नेस्ट रेनॉ के। ‘राष्ट्र क्या होता है’ इस शीर्षक की अपनी पुस्तक में उसने यह लिखा है। रेनॉ आगे लिखता है “दो बातें”, जो वस्तुतः एक ही है, इस आध्यात्मिक तत्त्व को जन्म देती है। उनमें से एक वर्तमान कालीन होती है और दूसरी अतीत की। एक अतीत के अनुभवों और संस्मरणों का संग्रह होता है, तो दूसरा वर्तमान में एकत्र रहने की इच्छा होती है। हमने अतीत में यह किया और भविष्य में हम यह करेंगे – यह मान्यता जिनकी रहती है उनका राष्ट्र होता है, जिस प्रकार कृत्रिम रीति से मनुष्य तैयार नहीं किया जाता, वैसा राष्ट्र भी कृत्रिम रीति से बनाया नहीं जाता। परिश्रम, त्याग, बलिदान से राष्ट्र बनता है”

“A nation is a soul, a spiritual principle. Two things which are really only one go to make up this soul or spiritual principle. One of these things lies in past, the other is in present. The one is the possession in common of a rich heritage of memories; and the other is actual agreement: the desire to live together and the will to continue to make the most of the joint inheritance. Man cannot be improvised. The nation, like the individual is the fruit of a long past spent in toil, sacrifice and devotion.” (ibid - page 765)

सौ-सवासौ वर्ष पूर्व रेनॉ ने जो लिखा है और श्री गुरुजीने बार-बार जिसे कहा है उनके शब्दों में अन्तर है, किन्तु भाव एक ही है।

श्री गुरुजी कहते हैं “किसी राष्ट्र के लिए प्रथम अपरिहार्य वस्तु एक भूखण्ड है जो यथासंभव किसी प्राकृतिक सीमाओं से आबद्ध हो तथा एक राष्ट्र के रहने और वृद्धि और समृद्धि के लिए आधार रूप में काम दे। द्वितीय आवश्यकता है उस विशिष्ट भूप्रदेश में रहनेवाला समाज जो उसके प्रति मातृभूमि के रूप में प्रेम और पूज्य भाव विकसित करता है तथा अपने पोषण, सुरक्षा और समृद्धि के आधार के रूप में उसे ग्रहण करता है। संक्षेप में, यह समाज उस भूमि के पुत्ररूप में स्वयं को अनुभव करे।

“वह समाज केवल मनुष्यों का एक समुच्चय नहीं होना चाहिए। विजातीय व्यक्तियों का किसी स्थानपर एकत्रीकरण मात्र नहीं चाहिए। उसके जीवन की एक विशिष्ट पद्धति बनी होनी चाहिए। जिसको, जीवन के आदर्श, संस्कृति, अनुभूतियों, भावनाओं, विश्वास एवं परम्पराओं के सम्मिलन के द्वारा एक स्वरूप दिया गया है। इस प्रकार जब समाज समान परम्पराओं एवं महत्त्वाकांक्षाओं से युक्त, अतीत जीवन की सुख-दुःख की समान स्मृतियों और शत्रु-मित्र की समान अनुभूतियोंवाला तथा जिनके सभी हित संग्रहित होकर एकरूप हो गये हैं, इस सुव्यवस्थित रूप में संगठित हो जाता है, तब इस प्रकार के लोग, उस विशिष्ट प्रदेश में पुत्र के रूप में निवास करते हुए एक राष्ट्र कहे जाते हैं।”

“जब कभी हमने यह अनुभव किया कि हमारे हित अविभक्त हैं, हमारे शत्रु एवं मित्र हम सभी के लिए समान हैं, तो हमारे राष्ट्रजीवन में ऐसी महत् शक्ति का उद्भव हुआ कि विदेशी शक्ति चूर-चूर होकर हमारे पैरोंपर लोटने लगी। एक पूर्ण राष्ट्र के निर्माण के लिए सभी आवश्यक तत्त्वों की पूर्ति इस प्रकार इस महान हिन्दुओं के जीवन में होती है। इस लिए हम कहते हैं कि हमारे इस भारत देश में हिन्दू जीवन ही राष्ट्रजीवन है। संक्षेप में यह हिन्दू राष्ट्र है।”

रूस के तानाशाह जोसेफ स्टालिन का एक वचन श्री गुरुजी यहाँ उद्धृत करते हैं। स्टालिन ने कहा था -“एक भू-प्रदेश में रहने वाले जनों का, केवल आर्थिक अथवा राजनीतिक सामान्य हितों के आधार पर ही राष्ट्र नहीं बन जाता। वरन् वह तो एक अभौतिक भावनाओं की सजातीयता है।”

स्टालिन “अभौतिक भावनाओं की सजातीयता” कहते हैं, तो रेनों “आध्यात्मिक अवधारणा” कहते हैं। तो श्री गुरुजी कहते हैं -“राष्ट्रीयता के लिए मानसिक निष्ठा एक ऐसा तत्त्व है, जिसे सम्पूर्ण संसार स्वीकार करता है।” आगे चलकर, राष्ट्रजीवन के एकीकरण, उत्थान एवं गौरव सम्पादन करने में समर्थ शाश्वत स्रोतों की श्री गुरुजी गिनती ही करते हैं। वे कहते हैं-

- १) “सबसे पहला है, जिस देश को अनादि काल से हमने अपनी पवित्र मातृभूमि माना है, उसके लिए ज्वलन्त भक्तिभावना का आविर्भाव।
- २) द्वितीय है, साहचर्य एवं भ्रातृत्व भावना जिसका जन्म इस अनुभूति के साथ होता है कि हम इस महान् माता के पुत्र हैं।
- ३) तृतीय है, राष्ट्र-जीवन की समान धारा की उत्कट चेतना जो समान संस्कृति एवं समान पैतृक दाय, समान इतिहास एवं समान परम्पराओं, समान आदर्शों एवं आकांक्षाओं में से उत्पन्न होती है।

जीवन के मूल्यों की यह त्रिगुणात्मक मूर्ति एक शब्द में हिन्दू राष्ट्रीयता है जो राष्ट्रमंदिर के निर्माण के लिए आधार बनती है।”

(विचार नवनीत, पृष्ठ ११६ से १३२)



अध्याय - ४

संस्कृति: राष्ट्र संकल्पना का हृदय

राष्ट्र यानी लोग या समाज होता है। उसकी विशेषता उस समाज की संस्कृति होती है। संस्कृति यानी उस समाज के जीवनमूल्य, संस्कृति यानी उस समाज के अच्छे और बुरे नापने के मापदण्ड। संक्षेप में संस्कृति यानी राष्ट्र और राष्ट्रियता का प्राण। श्री गुरुजी कहते हैं:-

“हिन्दू राष्ट्र की हमारी कल्पना राजनीतिक एवं आर्थिक अधिकारों का एक गट्टर मात्र नहीं है। वह तत्त्वतः सांस्कृतिक है। हमारे प्राचीन एवं उदात्त सांस्कृतिक जीवनमूल्यों से उसके प्राणों की रचना हुई है। और हमारी संस्कृति की भावना का उत्कट नवतारुण्य (rejuvenation) ही हमारे राष्ट्रीय जीवन की सही दृष्टि हमें प्रदान कर सकता है तथा आज हमारे राष्ट्र के सम्मुख खड़ी हुई अगणित समस्याओं के समाधान में हमारे सभी प्रयत्नों को सफल दिशानिर्देश भी कर सकता है।

“किन्तु इन दिनों संस्कृति के नवतारुण्य को प्रायः ‘पुनरुज्जीवनवाद’ और प्रतिक्रियावाद होने की उपाधि दी जाती है। प्राचीन पूर्वाग्रहों, मूढ़ विश्वासों, अथवा समाजविरोधी रीतियों का पुनरुज्जीवन प्रतिक्रियात्मक कहा जा सकता है, कारण इसका परिणाम समाज का पाषाणीकरण (fossilisation) में हो सकता है। किन्तु शाश्वत एवं उत्कर्षकारी जीवनमूल्यों का नवतारुण्य कभी प्रतिक्रियात्मक नहीं हो सकता। इसे केवल प्राचीन होने के कारण प्रतिक्रियात्मक’ नाम देना, बौद्धिक दिवालियापन प्रकट करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अपनी संस्कृति के नवतारुण्य से हमारा आशय उन शाश्वत जीवनादर्शों को पुनः जीवन में उतारने से है, जिन्होंने इन सहस्रों वर्षों तक हमारे राष्ट्रजीवन को पोषित किया और अमरता प्रदान की।”

अपनी संस्कृति की विशेषताओं का विवेचन करते हुए श्री गुरुजी कहते हैं -“प्रथम एवं सर्वाधिक मूलभूत पहलू है उस परम सत्य की अनुभूति की आकांक्षा, जो सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है, चाहे उसे कुछ भी नाम दिया गया हो। अथवा सरल शब्दों में कहा जाय तो “ईश्वर का साक्षात्कार करना। किन्तु ईश्वर है कहाँ? हम उसे कैसे जान सकते हैं? उसका स्वरूप कैसा है? उसके रूप, गुण क्या हैं? कि हम उसका ध्यान कर सकें और उसको पावें? उसका यह वर्णन कि वह निर्गुण और निराकार है इत्यादि, हमारी समस्याओं को सुलझाता नहीं। पूजा के विविध पंथ भी विकसित हुए हैं। लोग मंदिरों में जाते हैं और सर्वशक्तिमान् का प्रतीक मानकर मूर्तियों पर ध्यान केन्द्रित करने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु जो कि कर्मशक्ति से पूर्ण है उनको यह सब सन्तुष्ट नहीं करता।

“अतएव हमारे पूर्वजों ने कहा है “हमारा समाज ही हमारा ईश्वर है। “जनता जनार्दन” है। भगवान् रामकृष्ण परमहंस ने कहा है -‘मनुष्य की सेवा करो’। जनता में जनार्दन देखने की यह

अतिश्रेष्ठ दृष्टि ही हमारे राष्ट्रकल्पना का हृदय है। उसने हमारे चिन्तन को परिव्याप्त कर लिया है तथा हमारे सांस्कृतिक दाय की विविध अनुपम कल्पनाओं को जन्म दिया है।”

ईश्वर की सेवा यानी समाज की सेवा। ईश्वर की पूजा यानी जनता जनार्दन की पूजा। इस भाव को यदि हमने हृदयंगम किया तो फिर मनुष्य अपने अधिकारों की बात नहीं करेगा। अपने कर्तव्यों का ध्यान रखेगा। श्री गुरुजी कहते हैं “आज हम सभी जगह अधिकारों के लिए मचा हुआ कोलाहल सुनते हैं। हमारे सभी राजनैतिक दल समान अधिकारों की बात बोलते हुए लोगों में अहंभाव जागृत कर रहे हैं। कहीं भी कर्तव्य और निःस्वार्थ भाव की सेवा पर कोई बल नहीं दिया जाता। स्व-केन्द्रित अधिकार-ज्ञान के वायुमण्डल में सहयोग की भावना, जो समाज की आत्मा होती है, जीवित नहीं रह सकती। इसी कारण आज हम अपने राष्ट्रजीवन में विविध घटकों के बीच संघर्ष देख रहे हैं। केवल हमारी सांस्कृतिक दृष्टि के आत्मसात् करने से ही हमारे राष्ट्रजीवन में सहयोग की सच्ची भावना एवं कर्तव्य की चेतना पुनर्जीवित हो सकती है।”

अपनी संस्कृति की और एक विशेषता, श्री गुरुजी बताते हैं। “हिमाचल के समान उन्नत हमारी संस्कृति का एक और शिखर है जिसपर पहुँचने की महत्वाकांक्षा अभी तक संसार में अन्य किसी ने नहीं की है। ‘एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति’ वाक्यद्वारा जिस भाव की अभिव्यक्ति की गई है- अर्थात् सत्य एक है, ऋषि उसे विविध प्रकार से बताते हैं - इस प्रकार भाव को व्यक्त करने के लिए अंग्रेजी में कोई शब्दरचना नहीं है। ‘सहिष्णुता’ शब्द, जो इस भाव को व्यक्त करने के लिए प्रयोग में आता है, बहुत नीचा है। वह तो सहन करने मात्र का भाव व्यक्त करने के लिए एक अन्य शब्द है। इसमें एक अहं का भाव है, जो केवल दूसरों के दृष्टिकोण को मात्र सहन करता है, उसके लिए कोई प्रेम या सम्मान नहीं रखता। परन्तु, हमारी शिक्षा अन्य विश्वासों एवं दृष्टिकोणों को इस रूप में सम्मान करने तथा स्वीकार करने की भी रही है कि वे सब एकही सत्य तक पहुँचने के लिए अनेक मार्ग हैं।”

श्री गुरुजी आगे बताते हैं “जब हम अपने उदात्त सांस्कृतिक मूल्यों की बात करते हैं तो आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता में पले हुए लोग सोचते हैं कि यह कोई रहस्यात्मक चीज है, कुछ पारलौकिक वस्तु है। किन्तु यह केवल हमारे मानसिक दास्य की वर्तमान गहराई को ही प्रकट करता है, जिसने हमें उन सिद्धान्तों को समझने के सामर्थ्य से भी वंचित कर दिया है, जो कभी हमारे राष्ट्रजीवन का गौरव थे।”

नाच, गाना, नाटक, चलचित्र को ही सांस्कृतिक कार्य मानना श्री गुरुजी को मान्य होना सम्भव ही नहीं था। वे कहते हैं “आज हम एक दूसरी पराकाष्ठा देखते हैं। नाच, गाना, चलचित्र तथा नाटकों को ही हम संस्कृति मानने लगे हैं। हम इस प्रकार के ‘सांस्कृतिक कार्यक्रम’ अपने देश में सभी जगह चलते हुए देखते हैं। निस्संशयरूपेण हल्के मनोरंजन का एक दूसरा नाम संस्कृति हो गया है। यह इतनी हास्यासपद और अपमानकारी सीमातक पहुँच गया है कि नैतिक दुश्चरित्रता के कीचड़ में फँसे हुए चलचित्र के कुख्यात नट-नटी हमारे सांस्कृतिक प्रतिनिधिमण्डलों में सम्मिलित किये जाते हैं। जिस देश में राम और सीता जैसे आदर्श चरित्र हुए, जिसने भूतकाल में श्रेष्ठतम दार्शनिक एवं ऋषियों और वर्तमान काल में विश्व में सहज

सम्मान तथा प्रेमादर प्राप्त करनेवाले रामकृष्ण परमहंस और विवेकानंद जैसे व्यक्तियों को अपने सांस्कृतिक प्रतिनिधि के नाते भेजा है, वहाँ से ऐसे व्यक्तियों का हमारे देश के सांस्कृतिक प्रतिनिधि के नाते जाना हमारे पतन का एक भयावह दृश्य उपस्थित करता है।”

हमारी इस उन्नत संस्कृति की आवश्यकता केवल अपने देश तक सीमित नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ में भी उसकी उपयोगिता है, इस तथ्य का प्रतिपादन करते हुए श्री गुरुजी बोलते हैं, “हमारी सांस्कृतिक दृष्टि को ही, जो मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रेम और सामंजस्य के लिए सच्चा आधार प्रदान करती है, और जीवन के सम्पूर्ण दर्शन को पूर्ण करती है, आज के इस युद्ध से ध्वस्त हुए विश्व के सामने प्रभावी ढंग से रखने की आवश्यकता है। यदि इस महान् जागतिक लक्ष्य में हम सफलता प्राप्त करना चाहते हैं, तो हमें प्रथम अपना उदाहरण प्रस्तुत करना होगा। हमें विदेशीवादों (isms) की मानसिक शृंखलाओं और आधुनिक जीवन के विदेशी व्यवहारों तथा अस्थिर “फैशनों” से अपनी मुक्ति कर लेनी होगी। परानुकरण से बढ़कर राष्ट्र की अन्य कोई अवमानना नहीं हो सकती है। हम स्मरण रखें कि अन्धानुकरण प्रगति नहीं है।”

(विचार नवनीत-पृष्ठ. २३ से ३२)



अध्याय - ५ हिन्दू ही क्यों?

उपरिनिर्दिष्ट विवेचन से यह स्पष्ट होगा कि जो लोग या जो समाज, अपने देश को मातृभूमि मानकर उसका वन्दन करता है, जिसकी इतिहास की अनुभूतियाँ समान हैं, तथा जिसके सांस्कृतिक जीवनमूल्य समान हैं, उस समाज का राष्ट्र बनता है। अपने देश के सन्दर्भ में विचार किया तो यह स्पष्ट रूप से प्रतीत होगा कि, ऐसे समाज का नाम हिन्दू है। अतः यह हिन्दू राष्ट्र है। एक राष्ट्र बनने के लिए समान भाषा की आवश्यकता नहीं है। अमरीका और कनाडा की भाषा एक है, किन्तु वे अलग राष्ट्र हैं, कारण उनकी इतिहास की अनुभूतियाँ भिन्न हैं। स्विटजरलैंड में तीन भाषाएँ प्रचलित हैं, फिर भी वह एक राष्ट्र है। भले ही भाषा भिन्न हो, पर आशय एक होना चाहिए। मजहब या उपासना पद्धति भी एकरूप होने की आवश्यकता नहीं। हिन्दू मन और संस्कार, विविधता के नित्य पोषक रहे हैं। समान आर्थिक हितसम्बन्धों के कारण आर्थिक गठबन्धन बन सकता है। राष्ट्र नहीं बनता अर्नेस्ट रेनों भी यही मत प्रतिपादित करते हैं।

“Community of interests brings about commercial treaties. Nationality which is body and soul both together, has its sentimental side: and a Customs Union is not a country.” (ibid - page 764)

और आज के यूरोप का वास्तव, उसी मत की पुष्टि करता है। इंग्लैंड को छोड़कर यूरोप के कई देशों ने एक समान सिक्का भी स्वीकृत किया है, किन्तु उसके कारण यूरोपियन यूनियन में अन्तर्भूत राष्ट्रों ने अपनी स्वतंत्र अस्मिता और अलग पहचान को समाप्त नहीं किया। उस विशिष्ट पहचान को खतरे का आभास दिखते ही फ्रान्स का राष्ट्रभाव जागृत हुआ और उसने अधिक नजदीकी का विरोध किया।

हिन्दू समाज में अनेक विविधताएँ हैं। अनेक भाषाएँ हैं। जातियाँ हैं। प्रान्त के भेद भी हैं। फिर भी सबके अंतरंग में सांस्कृतिक एकात्मता का भाव है। भिन्न-भिन्न भाषाओं ने उसी सांस्कृतिक एकात्मता को अधोरेखित किया है। इस एकात्मता का नाम हिन्दू है। देश का नाम भी हिंदुस्तान है। श्री गुरुजी का आग्रह है कि हमने अपना सदियों से चलता आया हुआ “हिन्दू” यह नाम नहीं छोड़ना चाहिये। हिन्दू इस नाम में कोई बुराई नहीं है। श्री गुरुजी के शब्द है:-

“अनादि काल से, एक महान् एवं सुसंस्कृत समाज, जिसे हिन्दू कहते हैं, इस भूमि के पुत्र के रूप में निवास कर रहा है। किन्तु कुछ लोग हिन्दू नाम पर आपत्ति करते हैं और कहते हैं कि तुलनात्मक दृष्टि से इसका मूल तो साम्प्रदायिक है तथा यह नाम हमें विदेशियों द्वारा दिया गया है। वे हिन्दू के स्थानपर ‘आर्य’ अथवा ‘भारतीय’ नाम का सुझाव देते हैं।”

इसपर श्री गुरुजी कहते हैं “निस्संदेह ‘आर्य’ एक स्वाभिमानपूर्ण प्राचीन नाम है। किन्तु इसका प्रयोग, विशेषतया गत सहस्र वर्षों में अप्रचलित हो गया। गत शताब्दी में ऐतिहासिक शोध के नाम पर अंग्रेजों द्वारा किए हुए अपप्रचार ने हमारे मस्तिष्क में धूर्ततापूर्वक बनाए गए आर्य-द्रविड़ विवाद की विषैली जड़ें गहराई तक फैला दी हैं। अतः ‘आर्य’ नाम का प्रयोग हमारे उद्देश्य की सिद्धि में निष्फलता का कारण बनेगा।”

“भारतीय” नाम के बारे में श्री गुरुजी कहते हैं :- भारतीय प्राचीन नाम है, जो अतिप्राचीन काल से हमसे संबंधित है। भारत नाम वेदों तक में मिलता है। हमारे पुराणों ने भी हमारी मातृभूमि को ‘भारत’ कहा है और यहाँ के निवासियों को “भारती”। वास्तव में “भारती” सम्बोधन हिंदू का पर्यायवाची है। किन्तु आज भारतीय शब्द के सम्बन्ध में भ्रान्त धारणाएँ उत्पन्न हो गई हैं। सामान्यतया यह ‘इंडियन’ शब्द के अनुवाद के रूप में प्रयुक्त होने लगा है। भारत का अर्थ हिन्दू ही है। “भारत” को कितना ही तोड़-मरोड़ कर कहा जाय तो भी उसमें से अन्य कोई अर्थ नहीं निकल सकता। अर्थ केवल एक ही निकलेगा ‘हिन्दू’। तब क्यों न “हिन्दू” शब्द का ही असंदिग्ध प्रयोग करें। हमारे राष्ट्र की पहचान करानेवाला सीधा-सादा प्रचलित शब्द “हिन्दू” है। केवल हिन्दू शब्द ही उस भाव को पूर्ण एवं शुद्ध रीति से व्यक्त करता है, जिसे हम व्यक्त करना चाहते हैं।

“यह कहना भी ऐतिहासिक दृष्टि से शुद्ध नहीं है कि ‘हिन्दू’ नाम नूतन है अथवा विदेशियों द्वारा हमें दिया गया है। विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ ‘ऋग्वेद’ में हमें “सप्त सिन्धु” नाम मिलता है, जो हमारे देश एवं हमारे जन के लिए प्रयुक्त हुआ है। यह भी भली प्रकार से ज्ञात है कि संस्कृत का ‘स’ वर्ण हमारी कुछ प्राकृत भाषाओं में तथा कुछ यूरोपीय भाषाओं में भी ‘ह’ में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार प्रथम ‘हप्त हिन्दू’, तत्पश्चात् “हिन्द” नाम प्रचलित हो गया। इसलिए “हिन्दू” हमारा अपना और गौरवशाली नाम है, जिसके द्वारा बाद में अन्य लोग भी हमें पुकारने लगे।”

यहाँ यह बात ध्यान में रखने लायक है कि कारण कुछ भी हों, पश्चिम और पूर्व के प्रदेशों में ‘स’ के बदले ‘ह’ का उच्चारण किया जाता है। ‘सप्ताह’ ‘हप्ता’ बनता है। ‘सम’ ‘हम’ हो जाता है और फिर समता के निदर्शक ‘हमदर्द’, ‘हमसफर’ ऐसे शब्द बनते हैं। पारसियों के धर्म ग्रन्थ में ‘सुर’ का ‘हुर’। और ‘असुर’ का ‘अहुर’ बना है। पूर्व में भी, जिसको हम ‘असम’ बोलते हैं, उसको वहाँ के लोग ‘अहोम’ बोलते हैं। इसी रीति से वहाँ ‘संघ’ ‘हंग’ हो जाता है। अतः सिन्धु का हिन्दू बनना एकदम स्वाभाविक है। ‘सिन्धु’ जितनी प्राचीन, उतना ही हिन्दू प्राचीन।

कुछ लोग, विशेषतः बाहरी लोग, हिन्दू समाज के अंतर्गत अनेक विश्वासों, सम्प्रदायों, जातियों, भाषाओं, रीति-रिवाजों के बाहुल्य को देखते हैं तो वे भ्रम में पड़ जाते हैं और प्रश्न करते हैं कि भाँति-भाँति के तत्त्वों एवं असंगत स्वरो से युक्त समूह को किस प्रकार एक समाज कहा जा सकता है? कहाँ है एक जीवनपद्धति जिसे तुम ‘हिन्दू’ कहते हो?,

इस प्रश्न के उत्तर में श्री गुरुजी का कथन है- “यह प्रश्न हिन्दू-जीवन के बाह्य स्वरूप से उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ एक वृक्ष को लीजिए, जिसमें शाखाएं, पत्तियाँ, फूल और फल के

समान भिन्न-भिन्न प्रकार के उसके कई भाग होते हैं। तने में शाखाओं से अन्तर होता है और शाखाओं में पत्तियों से। सभी एक दूसरे से नितान्त विभिन्न। किन्तु हम जानते हैं कि ये सब दीखनेवाली विविधताएँ केवल उस वृक्ष की भाँति-भाँति की अभिव्यक्तियाँ हैं, जबकि उसके इन सभी अंगों को पोषित करता हुआ उनमें एक ही रस प्रवाहित हो रहा है। यही बात हमारे सामाजिक जीवन की विविधताओं के सम्बन्ध में भी है, जो इन सहस्रों वर्षों में विकसित हुई है। जिस प्रकार वृक्ष में फूल और पत्तियों का विकसन उसका विभेद नहीं, उसी प्रकार हिन्दू समाज की विविधताएँ भी आपसी विघटन नहीं है। इस प्रकार का नैसर्गिक विकास हमारे समाज जीवन का अद्वितीय स्वरूप है।”

श्री गुरुजी आगे बताते हैं, “अनेकता में एकता’ का हमारा वैशिष्ट्य हमारे सामाजिक जीवन के भौतिक एवं आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में व्यक्त हुआ है। यह उस एक दिव्य दीपक के समान है जो चारों ओर विविध रंगों के शीशों से ढका हुआ हो। उसके भीतर का प्रकाश, दर्शक के दृष्टिकोण के अनुसार भाँति-भाँति के वर्णों एवं छायाओं में प्रकट होता है। यही उस अभिव्यक्ति की विचित्र विविधता है, जिस से कुछ लोग कहते हैं कि हमारा एक समाज नहीं है, एक राष्ट्र नहीं है, यह बहुराष्ट्रीय देश है। यदि हम अपने समाजजीवन के सही मूल्यांकन को ग्रहण करें, तो उसकी वर्तमान व्याधियों का भी विश्लेषण कर सकेंगे तथा उनके उपचार के लिए उपायों की भी योजना करने में समर्थ होंगे।”

हिन्दू समाज में विभेद और विच्छिन्नता निर्माण करना ही जिनका जीवनोद्देश्य है, वे किसी भी कारण को उछालकर कटुता निर्माण करने की चेष्टा करते रहते हैं। उदाहरणार्थ - उत्तर भारत और दक्षिण भारत में विभेद। इस सम्बन्ध में श्री गुरुजी कहते हैं “सभी दार्शनिक सिद्धान्त हमारे सम्पूर्ण देश में तथा जो उत्तर के भी कोने-कोने में परिव्याप्त हैं, उन्हीं महान् आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठापित हुए हैं, जिनका जन्म दक्षिण में हुआ है, अनुपम अद्वैत दर्शन के प्रवर्तक शंकर, विशिष्टाद्वैत की भक्ति के आलोक रामानुज, ईश्वर और जीवन की अति उच्च द्वैत भावना जगानेवाले मध्वाचार्य तथा विश्व यह ईश्वर के परमानंद स्वरूप की अभिव्यक्ति है, ऐसा माननेवाले वल्लभाचार्य ये सभी दक्षिण के थे। तो क्या हमें कहना चाहिए कि दक्षिण ने दार्शनिक रूप में समस्त देश पर अधिकार जमाया हुआ है। यह कथन कितना असंगत है? अरे, क्या मेरा शीश मेरी टांगों पर अधिकार किये हुए है? क्या दोनों एक शरीर के समान भाव से अंग नहीं हैं?”

श्री गुरुजी की पीड़ा है कि “हिन्दू नाम जो हमारे सर्वव्यापक धर्म का बोध कराता था, आज अप्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ है, लोग अपने को हिन्दू कहने में लज्जा का अनुभव करने लगे हैं। इस प्रकार वह स्वर्णिम सूत्र जिसमें ये सभी आभायुक्त मोती पिरोये हुए थे, छिन्न हो गया है, तथा विविध पंथ एवं मत केवल अपने ही नामपर गर्व करने लगे हैं और अपने को हिन्दू कहलाने से इन्कार कर रहे हैं। कुछ सिख, जैन, लिंगायत, तथा आर्यसमाजी अपने को हिन्दुओं से पृथक घोषित करते हैं। यह कितनी विचित्र बात है?

“वास्तविकता यह है कि “हिन्दू शब्द जातिवाचक नहीं है। वह सम्प्रदाय का भी वाचक नहीं है। अनादि काल से यह समाज अनेक सम्प्रदायों को उत्पन्न करके एक मूल से जीवन ग्रहण कर

रहता आया है। उसके द्वारा यहाँ जो समाजस्वरूप निर्माण हुआ वह हिन्दू है। भले ही यहाँ अलग-अलग राजा हों, राज्य हों, सम्प्रदाय हों, असमानता, भिन्नता हों परन्तु सांस्कृतिक एकता है, एकसूत्र व्यावहारिक जीवन है।”

सब मतों और धारणाओं की चर्चा करने के बाद, निचोड़ के रूप में श्री गुरुजी कहते हैं, “अपने राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति का जब हम विचार करते हैं, तो हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति, हिन्दू समाज का संरक्षण करते हुए ही यह हो सकता है। इसका आग्रह यदि छोड़ दिया तो अपने ‘राष्ट्र’ के नाते कुछ भी नहीं बचता। केवल दो पैरों वाले प्राणियों का समूह मात्र बचता है। ‘राष्ट्र’ नाम से अपनी विशिष्ट प्रकृति का जो एक समष्टिरूप प्रकट होता है, उसका आधार हिन्दू ही है। हमें इस आग्रह को तीव्र बनाकर रखना चाहिए। अपने मन में इसके सम्बन्ध में जो व्यक्ति शंका धारण करेगा, उसकी वाणी में शक्ति नहीं रहेगी और उसके कहने का आकर्षण भी लोगों के मनमें उत्पन्न नहीं होगा। इसलिए हमें पूर्ण निश्चय के साथ कहना है, कि हाँ, हम हिन्दू हैं। यह हमारा धर्म, संस्कृति, हमारा समाज है और इनसे बना हुआ हमारा राष्ट्र है। इसी के भव्य, दिव्य, स्वतंत्र और समर्थ जीवन को खड़ा करने के लिए ही हमारा जन्म है।”



अध्याय - ६ हिंदू राष्ट्र और अल्पसंख्यक

“हिन्दू राष्ट्र” का शब्दप्रयोग किया कि प्रश्न उठाया जाता है कि अल्पसंख्यकों का क्या? अल्पसंख्यक के मायने अपने देशमें, मुसलमान और ईसाई ही होते हैं। इन प्रश्नकर्ताओं को पूछा जाना चाहिये कि अल्पसंख्यक का अर्थ क्या है? ६६ प्रतिशत से भी अधिक संख्या में, यहाँ के मुसलमान तथा ईसाई इसी देश में पैदा हुए हैं। फिर ये अल्पसंख्यक कैसे? क्या मजहब या उपासना पद्धति बदलने से व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का समूह अल्पसंख्य बन जाता है? वस्तुतः, इस देश में अल्पसंख्यक केवल पारसी और यहूदी ही हैं। वे अन्य देशों से निर्वासित होकर यहाँ आये हैं। किन्तु उनकी कोई समस्या नहीं है। उनकी कोई मांग भी नहीं है। मुसलमानों की मांगें हैं। इसका कारण यह दीखता है कि देशविभाजन की यानी पाकिस्तान निर्माण करने की मांग हमारे राजनीतिक नेताओं ने मान ली है, तो उनको लगता है कि उसी नीति को अपनाकर और भी कुछ मिल जाय। जिस प्रकार अलगाववाद का पोषण कर, और अपनी जनसंख्या में वृद्धि पाकर, उन्होंने पाकिस्तान प्राप्त किया, वैसे और पाकिस्तान वे निर्माण करना चाहते हैं। ईसाईयों को भी लगता है कि पाकिस्तान के तर्जपर वे भी ईसाई राज्य स्थापित कर सकेंगे। इसी हेतु उत्तर-पूर्व के ईसाईबहुल क्षेत्र में बगावत चल रही है। ये वैसे राजनीतिक समस्याएँ हैं, किन्तु इसका राष्ट्रीयता पर भी असर पड़ता है। श्री गुरुजीने राष्ट्रीयता का मुद्दा केन्द्रस्थान पर रखकर मुसलमानों का विचार किया है। उनके शब्द ऐसे हैं:-

“जब हम कहते हैं कि यह हिन्दू राष्ट्र है, तो कुछ लोग तुरन्त प्रश्न करते हैं कि जो मुसलमान और ईसाई यहाँ रहते हैं, उनके विषय में आप क्या कहते हैं? क्या वे भी यहाँ उत्पन्न नहीं हुए? तथा यहीं उनका पालन-पोषण नहीं हुआ ? वे धर्म के परिवर्तन से ही परकीय कैसे हो गये? किन्तु निर्णायक बात तो यह है कि क्या उन्हें यह स्मरण है कि वे इस भूमि की संतान है? केवल हमारे ही स्मरण रखने से क्या लाभ? यह अनुभूति और स्मृति उन्होंने पोषित करनी चाहिए। हम इतने क्षुद्र नहीं हैं कि यह कहने लगे कि केवल पूजा का प्रकार बदल जाने से कोई व्यक्ति उस भूमि का पुत्र नहीं रहता। हमें ईश्वर को किसी नाम से पुकारने में आपत्ति नहीं है। हम संघ के लोग पूर्णरूपेण हिन्दू हैं। इसलिए हममें प्रत्येक पंथ और सभी धार्मिक विश्वासों के प्रति सम्मान का भाव है, जो अन्य पंथों के प्रति असहिष्णु हैं, वह कभी भी हिन्दू नहीं हो सकता। किन्तु अब हमारे सामने प्रश्न यह है कि जो मुसलमान और ईसाई हो गये हैं उनका भाव क्या है? निस्संदेह वे इसी देश में पैदा हुए हैं। किन्तु क्या वे इसके प्रति प्रामाणिक हैं? इस मिट्टी के ऋणी हैं? क्या इस देश के प्रति, जहाँ उनका पालन-पोषण हुआ है, कृतज्ञ हैं? क्या वे अनुभव करते हैं कि वे इस देश और इसकी परम्पराओं की सन्तति हैं और इसकी सेवा करना उनके भाग्य की धन्यता है? क्या उसकी सेवा करना वे अपना कर्तव्य मानते हैं? नहीं।

धर्मपरिवर्तन (पूजा के प्रकार परिवर्तन) के साथ ही उनकी राष्ट्र के प्रति प्रेम और भक्ति की भावना समाप्त हो गई है। मुसलमानों ने, उनको देश से आबद्ध करने वाले सभी पूर्व पारम्परिक राष्ट्रीय सम्बन्ध-सूत्र काटकर अलग कर दिये हैं और मानसिक रूप से अपने को आक्रान्ताओं से एक कर लिया है। हम कहते हैं कि यह बात धर्म (पूजा का प्रकार) परिवर्तन की नहीं है वरन् राष्ट्रीय तादात्म्य में भी परिवर्तन आया है।”

एक अन्य स्थानपर श्री गुरुजी कहते हैं :-

“हमें यह स्पष्ट करना होगा कि यहाँ निवास करने वाले अहिन्दुओं का एक राष्ट्रधर्म अर्थात् राष्ट्रीय उत्तरदायित्व है, एक समाज-धर्म अर्थात् समाज के प्रति कर्तव्यभाव है, एक कुलधर्म अर्थात् अपने पूर्वजों के प्रति कर्तव्यभाव है, तथा केवल व्यक्तिगत धर्म, व्यक्तिगत निष्ठा का पंथ, अपनी आध्यात्मिक प्रेरणा के अनुरूप चुनने में वह स्वतंत्र है।”

(विचार नवनीत पृष्ठ. ११६ से १३२)

एक अन्य प्रश्न के उत्तर में श्री गुरुजी ने कहा, “ईसाई, मुसलमान, हिन्दू सभी को साथ रहना चाहिए, यह भी केवल हिन्दू ही कहता है। मुसलमान या ईसाई नहीं। किसी उपासना पद्धति से हमारा द्वेष नहीं है। परन्तु राष्ट्र के विरोध में जो भी खड़ा होगा, वह फिर प्रत्यक्ष अपना पुत्र ही क्यों न हों, तो अहिल्याबाई या छत्रपति शिवाजी महाराज के समान व्यवहार का आदर्श हमारे यहाँ है। तब राष्ट्रविरोधी यदि अन्य मतावलम्बी हुआ तो उसके साथ भी वैसा ही व्यवहार करेंगे, यह कहने में हमें हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए।”

(ठाणा वर्ग में प्रश्नोत्तर)

उपरिलिखित विवेचन से श्री गुरुजी की ‘राष्ट्र’ के सम्बन्ध में कौनसी अवधारणा है यह स्पष्ट होगी। आज अमरीका में ‘हम कौन हैं’ (Who are we) इस सॅम्युअल हंटिंग्डन की पुस्तक पर विवाद चल रहा है। प्रा. हंटिंग्डन का प्रतिपादन यह है कि ‘अंग्लो प्रॉटेस्टेंट कल्चर’ यही अमरीकन राष्ट्रीयता की आधारशिला है। उसको अमरीका कभी नहीं छोड़ेगा। हमने भी यह मानना चाहिए कि हिन्दू संस्कृति हमारे राष्ट्रजीवन की आधारशिला है, उसको हमने कभी नहीं छोड़नी चाहिए। उसको हम छोड़ेंगे, तो हमारी अस्मिता और पहचान ही समाप्त हो जायेगी।
